6571

तित्थयर

जैन भवन

वर्ष ५ अंक १० : फरवरी १९८२

बनारसी साड़ी
इण्डियन सिल्क हाउस
कॉलेज स्ट्रीट मार्केट • कलकत्ता-१२

Prakash Trading Company

12 INDIA EXCHANGE PLACE
CALCUTTA 700001

Gram : PEARLMOON

Telephone : 22-4110
22-3323

The Bikaner Woollen Mills

Manufacturer and Exporter of Superior Quality
Woollen Yarn/Carpet Yarn and Superior
Quality Handknotted Carpets

Office and Sales Office :

BIKANER WOOLLEN MILLS

Post Box No. 24
Bikaner, Rajasthan
Phones : Off. 3204
Res. 3356

Main Office

4 Mir Bhor Ghat Street
Calcutta-700007
Phone : 33-5969

Branch Office

The Bikaner Woollen Mills
Srinath Katra : Bhadhoi
Phone : 378

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्र

वर्ष ५ : अंक १०

फरवरी १९८२

□

संपादन

गणेश ललवानी

राजकुमारी बेगानी

□

आजीवन : एक सौ एक

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

प्रस्तुत अंक : एक रुपया

□

प्रकाशक

जैन भवन

पी - २५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७०००००७

□

मुद्रक

सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स

२०५ रवीन्द्र सरणी

कलकत्ता-७०००००७

सूची

देउलघाटा के दीवाल चित्र
और सराक संस्कृति २९३

जैन धर्म का प्रसार ३००

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र ३०४

तप ३१५

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या ३१७

संकलन ३१९

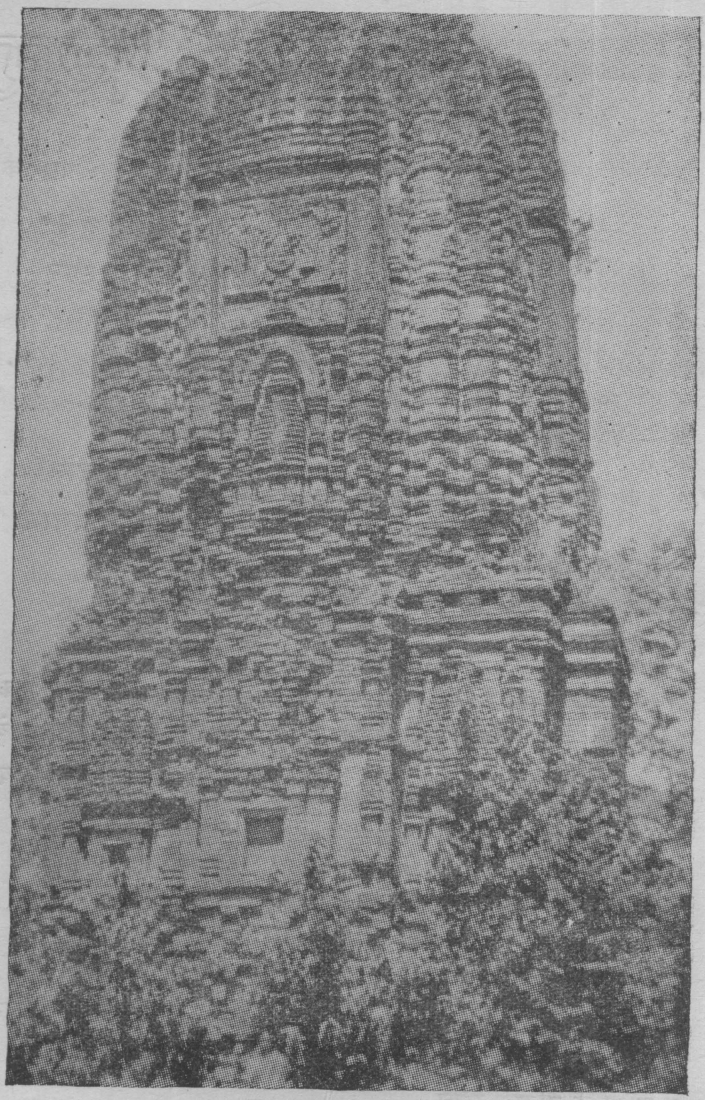

देउलघाटा का सराक जैन मन्दिर

कितने आकार के कितनी तरह के गहन शिल्पकलामय भित्ति चित्र बनाए जा सकते हैं वह एक बार देउलघाटा के मन्दिर को देखे बिना नहीं समझा जा सकता।

पृ० २६८

देउलघाटा के दीवाल चित्र और सराक संस्कृति

श्री युधिष्ठिर माजी

देउलघाटा। देउल संलग्न कंसावती का घाट। इसीलिए नाम देउलघाटा। गाँव का नाम बोड़ाम। अतीत की सराक जैन संस्कृति के साथ जुड़े ग्रामों के नामों में प्रायः 'ड़' अक्षर पाया जाता है। जैसे छड़रा, पाड़ा, आनीड़ा, पाकविड़रा (यहाँ करीब आठ फुट लम्बी एक तीर्थंकर मूर्त्ति का भग्नावशेष पड़ा हुआ है), सेनेड़ा, दूवड़ा, महादेव बेड़ा आदि।

पुरुलिया के जयपुर ग्राम से प्रायः तीन मील दक्षिण में कंसावती नदी के तट पर बोड़ाम एक छोटा गाँव है। नदी के दक्षिण पार्श्व में है पुराक्षेत्र देउलघाटा। यह अंचल कंकर, पत्थर, मिट्टी से निर्मित पुरुलिया के वन्य अंचल का एक अंश विशेष है। कंसावती में बारहों महीना जल नहीं रहता। आषाढ़, सावन और भाद्रमास उसके यौवन के हैं। फिर अन्य कई महीनों में वह सूख जाती है। उसके वक्ष पर निकल पड़ते हैं विशाल-विशाल पाषाणखण्ड और झक-झक करती बालु राशि। नदी के गोद से पत्थर की सीढ़ियाँ पहुँच गयी हैं देउलघाटा की पुण्य भूमि में।

देउलघाटा में ईंट के तीन प्राचीन मन्दिर एवं कई पाषाणों से बने मन्दिरों के ध्वंशावशेष दिखाई पड़ते हैं। प्राचीनकाल में पुरुलिया अंचल ने मिट्टी जलाकर बनायी हुई ईंटों के शिल्प में जो विशेष दक्षता दिखलायी थी उसी का निदर्शन है यहाँ देउलघाटा में। यहाँ के मन्दिरों के निर्माण में जिन ईंटों का व्यवहार हुआ था उनका आकार काफी बड़ा है। लम्बाई में ये प्रायः अठारह ईंच, चौड़ाई बारह ईंच और ऊँचाई मात्र दो ईंच है। ईंटें बड़ी चमकीली और स्वच्छ हैं। इन्हें देखकर लगता है जैसे आधुनिक युग की किसी मशीन से इन्हें बनाया गया है।

प्रथम मन्दिर अवस्थित है नदी के दक्षिण तट पर। यह सबसे अधिक भग्न और जीर्ण है। इसके कलेवर का अधिकांश अंश समाप्तप्राय है। मन्दिर का प्रवेश पथ त्रिकोणाकार है। पलस्तर नष्ट होकर श्रीहीन हो गए हैं। दूर से भग्न स्तम्भ की भाँति यह प्रतीत होता है।

नदी के घाट से प्रायः १५० फुट दक्षिण में दूसरा मन्दिर है। इस मन्दिर की ऊँचाई प्रायः-प्रायः ४५ फुट है। प्रवेश पथ प्रथम मन्दिर की ही भाँति पूर्वमुखी और त्रिकोणाकार है। गर्भ गृह है प्रायः वर्गाकार। अधिकांश सराक

जैन मन्दिरों की भाँति गर्भ गृह मन्दिर की तुलना में विशेष छोटा है। गर्भ गृह में कोई मूर्त्ति नहीं है।

मन्दिर की दीवाल कलाकृतियों से अत्यन्त अलंकृत है। सभी कलाकृतियाँ जलायी हुई ईंटों के खण्डों को सजाकर निर्मित की गई हैं। फिर इसके ऊपर पलस्तर का आवरण देकर उसे परिस्फुट किया गया है। कलाकृतियाँ इतनी पूर्ण एवं शिल्पमयी है कि दृष्टि हटाने की इच्छा नहीं होती। इन सब कलाकृतियों का निर्माण करते समय जिन मसालों को ईंट पर लगाया गया है वे पाषाण की तरह ही सख्त हैं। तभी तो शत-शत वर्षों से प्रकृति से युद्ध करते हुए वे आज भी मौजूद हैं। मन्दिर टूट रहा है, दीवालें फट रही हैं, क्षय हो रहा है जली हुई ईंटों का सख्त कलेवर फिर भी सुहागिन की सिन्दूर रेखा की भाँति इन अमूल्य कलाकृतियों की रक्षा करता ही आ रहा है ध्वंश पथ का यात्री देउलघाटा का यह मन्दिर। टूटे मन्दिर के सर्वांग पर फटी हुई गुदड़ी की भाँति दीवाल चित्र इधर-उधर से झाँक रहे हैं। मन्दिर में जिधर भी देखते हैं उधर ही पाते हैं विचित्र कलाकृतियाँ। कितने आकार कितनी तरह के गहन शिल्पकलामय भित्ति चित्र बनाए जा सकते हैं वह एक बार देउलघाटा के मन्दिर को देखे बिना नहीं समझा जा सकता। इन सब प्राचीन शिल्पकला के निदर्शनों को देखते-देखते मन विस्मय से अवाक् हो जाता है, खो जाता है प्राचीन इतिहास के इन अलिखित पृष्ठों पर।

मन्दिर की प्राचीरों पर बने चित्र या कलाकृतियाँ किसी फूल, लता-पत्र या जीव-जन्तुओं के नहीं हैं। ये सब हैं खूब गहन किन्तु विशिष्ट शिल्पकला सम्मत सुन्दर भित्ति चित्र, संस्कृति के निदर्शन। ये सब एक प्रकार के रेखांकित चित्र हैं जिनमें कल्पना शक्ति का चरम विकास प्रस्फुटित हुआ है। अर्थात् यहाँ के एक-एक खण्ड चित्र मानो एक-एक अपरूप कला नैपुण्य से समृद्ध सुन्दर अल्पना विशेष है।

मन्दिर के कंगूरे पर छोटे आकार वाली नर और नारी की मूर्त्ति, राक्षस का मुख और राज हंस का चित्र है।

मन्दिर की दीवालों के विस्तृत स्थान पर खूब बड़े-बड़े आकार के सुन्दर सुन्दर अल्पना जातीय रेखा चित्र अंकित किए गए हैं।

इन सब चित्रांकनों में मन्दिर शिल्पियों के विशिष्ट प्रकार के ज्यामिति शास्त्र के ज्ञान का परिचय पाया जाता है। मन्दिर प्राचीरों के स्थान-स्थान पर सम्पूर्ण मन्दिरों के मॉडल या अनुकृतियाँ बनायी गयी हैं। इस अंचल के सराक जैन मन्दिरों की यह एक प्रकार की विशिष्टता है। पाकविड़रा और

6571

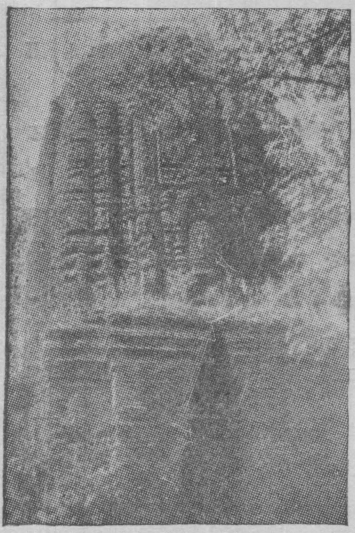

मन्दिर का प्रवेश पथ त्रिकोणाकार है।

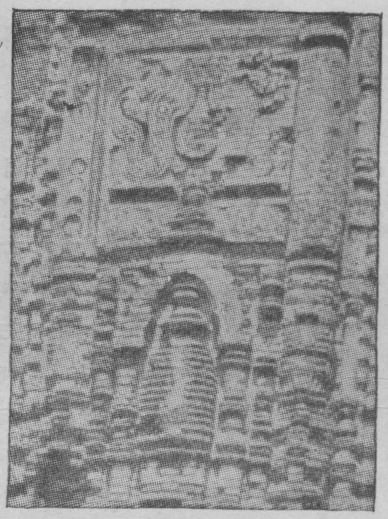

सुन्दर सुन्दर अल्पना जातीय रेखाचित्र।

फटी हुई गुदड़ी की भाँति दीवाल चित्र इधर-उधर से झांक रहें हैं।

चित्र : श्री युधिष्ठिर माजी

बराकर के मन्दिरों की कला कृतियों में भी यही मूल वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है ।

देउलघाटा का तीसरा मन्दिर सबसे बड़ा है । इसकी ऊँचाई प्रायः साठ फुट है । अन्य दोनों मन्दिरों की तुलना में इसका गर्भ गृह और प्रवेश पथ खूब बड़ा है । प्रवेश पथ पूर्वमुखी और त्रिकोणाकार है । गर्भ गृह के अनुपात में प्रवेश पथ इतना बड़ा है कि मन्दिर के भीतर क्या है क्या नहीं दूर से ही देखा जा सकता है । सम्भवतः तीर्थंकर मूर्त्ति बाहर से भी दिखलायी पड़े इसी-लिए प्रवेश पथ का आकार इतना वृहद् और दीर्घ है ।

इस मन्दिर के ऊपर एक विशाल वृक्ष मस्तक उठाए खड़ा है । मन्दिर की दीवालें चारों ओर पाँच फुट चौड़ी हैं । ऊपर की ओर ईंटों का स्तूप है । इसीलिए इस विशाल वृक्ष के बने रहने में कोई असुविधा नहीं है । मन्दिर के सर्वांग को अपनी तीक्ष्ण जड़ों में लपेट कर वह पुरुलिया के इस अतीत गौरव की शेष स्मृति को मिटा देने की प्राण-प्रण से चेष्टा कर रहा है ।

यहाँ का तीसरा मन्दिर तो शिल्प कला के दृष्टिकोण से केवल पुरुलिया ही नहीं समस्त पश्चिम बंगाल का गौरव है । मन्दिर प्राचीरों पर कलाकृतियाँ सज्जा की परिकल्पना और निपुण रूपायन में शिल्पज्ञान का जो परिचय दे रहा है, वह सम्पूर्ण विश्व को अवाक् कर सकता है । अतः देउलघाटा का यह मन्दिर सम्पूर्ण पुरुलिया की एक अमूल्य सम्पद के रूप में विवेचित होगा ।

इस मन्दिर के मूल अलंकरण में मन्दिर का मॉडल (miniature temple) है । इसके ऊपर है चैत्य । उसके ऊपर है एक चौकोर स्थान । इस वर्गाकार स्थान में एक प्रकार का ऐसा रेखाचित्र है जिसका कोई एक विशिष्ट सांकेतिक अर्थ है ऐसा प्रतीत होता है । यह सांकेतिक रेखा चित्र दूर से ही दिखाई पड़ता है । इसके अतिरिक्त यह चित्र मन्दिर के चारों ओर एक ही स्थान पर अंकित किया गया है । इसीलिए यह चित्र केवल कलाकृति ही है ऐसा नहीं लगता ।

देउलघाटा के मन्दिरों के परिचय को लेकर भी कुछ मतभेद है, कुछ विभ्रान्तियाँ भी हैं ।

१७६४-६५ खृष्टाब्द में मि० ई० टी० डल्टन साहब ने मानभूम जिले का परिदर्शन किया । वे देउलघाटा के इन मन्दिरों को भी देखने आए । उस समय मन्दिर के गर्भगृह में कोई मूर्त्ति नहीं थी । मन्दिर का आधार शिल्प-कला का वैशिष्ट्य और कलाकृतियों की प्रकृति निर्णय कर उन्होंने मन्तव्य दिया है—

These three temples are of the same type and are no doubt correctly ascribed by the people to the Srawakas.[1]

उनका यह सुचिन्तित मत स्वीकार कर लिया है मिस्टर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हण्टर एवं मिस्टर जी० कूपलैण्ड ने। अवश्य मिस्टर जी० डी० वेगलर ने मन्दिरों को शिव मन्दिर बताया है। मिस्टर ई० टी० डल्टन के मानभूम परिदर्शन के कुछ वर्ष पश्चात् ही मिस्टर जी० डी० वेगलर ने देउलघाटा का परिदर्शन किया। मिस्टर डल्टन ने देउलघाटा के मन्दिर में कोई मूर्त्ति नहीं पायी। अतः वे कहते हैं—The object of worship what ever they were have disappeared from the alters. किन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् मिस्टर जी० डी० वेगलर ने इन सब मन्दिरों में केवल शिवलिंग का ही दर्शन नहीं किया बल्कि मन्दिर के गर्भगृह में गणेश, कार्त्तिक सहित दुर्गा मूर्त्ति को भी देखा। मिस्टर वेगलर की बात मानने पर यह भी मानना होगा कि उनके परिदर्शन के समय इन सब मूर्त्तियों को उस मन्दिर में प्रतिष्ठित किया गया था।

मिस्टर वेगलर इन मन्दिरों को शिव मन्दिर कहकर ही शान्त नहीं हुए वे इन मन्दिरों को वर्ण हिन्दुओं का मन्दिर रूप में प्रमाणित करने के लिए हास्यकर इतिहास के उद्धरण भी देते हैं। उनके मत में आदिवासी संस्कृति निर्मित होने के पूर्व ब्राह्मण संस्कृति के प्रभाव से यह अंचल प्रभावित था। किन्तु मिस्टर ई० टी० डल्टन एवं परवर्ती अन्यान्य पण्डितगण वेगलर के तथ्य को मानने के लिए सम्मत नहीं हुए। उन्होंने यह इतिहास सम्मत नहीं है कहा। इस प्रसंग में मिस्टर जी० कूपलैण्ड का कथन है—Colonel Dalton's theory is a perfectly reasonable one.

मिस्टर वेगलर के तथ्य को अस्वीकार करने के कुछ और भी कारण हैं।

मिस्टर वेगलर के कथनानुसार यदि ये मन्दिर शिव मन्दिर हैं और इनमें गणेश, कार्त्तिक सहित दुर्गा की मूर्त्तियाँ हैं तो वे मूर्त्तियाँ अब कहाँ गयी? इतिहास द्वारा जहाँ तक जाना जा सकता है हिन्दुओं के मन्दिरों एवं मूर्त्तियों

---

[1] Notes on a Tour in Manbhum in 1964-65 by Col. E. T. Dalton. ये मन्दिर साधकों के साधन स्थल हैं उस प्रसंग में कालिदास नाग ने मन्तव्य दिया है—'ये कोई राजा-महाराजा द्वारा प्रतिष्ठित मन्दिर न होकर साधकों का साधन स्थल होना ही सम्भव है।'

को नष्ट किया मुसलमानों ने। अतीत में पुरूलिया अंचल में मुसलमानों का आक्रमण हुआ ऐसा कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं पाया जाता। इसीलिए पण्डितगणों ने मिस्टर वेगलर के कथन की सच्चाई के प्रसंग में सन्देह प्रकाशित किया है। मिस्टर कूपलैण्ड लिखते हैं—The destruction of Hindu temples is ordinarily ascribed to Mohammadans but so far as this area is concerned, there is no trace not even in tradition of any invasion.

अतः प्रश्न उठता है मिस्टर वेगलर ने किस उद्देश्य से प्रेरित होकर मानभूम अंचल का परिदर्शन किया था? सन्देह को एक बारगी ही उड़ाया नहीं जा सकता। सराक जैन मन्दिरों को हिन्दू शिव मन्दिर कहकर प्रचार करने की रीति इस अंचल में बहुत प्राचीन है। जैन मूर्त्तियों को मन्दिरों से हटाकर उनमें शिवलिंग की प्रतिष्ठा करना भी प्रचलित रीति थी। इसी प्रकार की घटना घटी है बराकर के मन्दिर में। यही घटना घटी है तेलकूपी के मन्दिर में, छड़रा के मन्दिर में, पाकबिड़रा के मन्दिर में। सर्वत्र तो यही घटा है। अतः देउलघाटा में ऐसी घटना नहीं घटेगी ऐसी तो आशा ही नहीं की जा सकती।

मिस्टर डल्टन मन्दिरों के स्थान से कुछ दूर एक कुएँ में एवं एक भग्न शिव मन्दिर में कुछ जैन मूर्त्तियों के सन्धान प्राप्त किए थे। उनके मत में यही सब जैन मूर्त्तियाँ देउलघाटा के मन्दिरों में रखी हुई थीं। बाद में किसी समय उन्हें हटाकर फेंक दिया गया है। मिस्टर डल्टन के कथन पर अविश्वास करने का कोई कारण ही नहीं मिलता। यही थी इस अंचल की प्रचलित रीति।

देउलघाटा के मन्दिर सराक जैन मन्दिर हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है मन्दिर की दीवारों पर बनी मन्दिरों की अनुकृतियाँ या मॉडल (miniature temple)। छड़रा, तेलकूपी, बराकर आदि स्थानों के जैन मन्दिरों के साथ देउलघाटा के मन्दिरों की दीवारों पर बने हुए मिनि मन्दिरों का आश्चर्यजनक साम्य है। बराकर के मन्दिरों के कंगूरे पर जिस प्रकार की कलाकृतियाँ हैं ठीक वैसी ही कलाकृतियाँ दिखाई पड़ती हैं देउलघाटा के मन्दिरों के कंगूरे पर।

इस अंचल के जैन मन्दिरों के प्रवेश पथ दो आकार के मिलते हैं। पाषाण मन्दिरों के प्रवेश पथ का आकार आयत क्षेत्र की भाँति है और ईंटों से बने मन्दिरों के प्रवेश पथ की आकृति त्रिकोणाकार है। पाड़ा के ईंट निर्मित जैन मन्दिर का प्रवेश पथ भी त्रिकोणाकार है। देउलघाटा की दीवारों पर

बने मिनि मन्दिरों के प्रवेश पथ पाषाण निर्मित जैन मन्दिरों की भाँति ही आयताकार है। इसके अतिरिक्त इन सब मन्दिरों की अनुकृतियों के शिखर पर यथ रीति धर्मचक्र या कमल है। उसके ऊपर है मंगल कलश।

देउलघाटा में एक डुमुर गाछ के नीचे अष्टभुजा दुर्गा प्रतिमा पायी गयी है। अवश्य ही मिस्टर वेगलर ने इस अष्टभुजा मूर्त्ति को देउलघाटा के मन्दिर में नहीं देखा है। कारण इसमें कार्त्तिक गणेश नहीं हैं। शिल्प कला की दृष्टि से इसमें सराक जैन शिल्प-संस्कृति की छाप है। पाकविड़रा में प्राप्त नारी-मूर्त्ति के साथ अलंकरण की दृष्टि से भी यह मूर्त्ति प्रायः एक रूप है। अतः यह अष्टभुजा मूर्त्ति सराक शिल्पियों द्वारा निर्मित हुई थी ऐसा अनुमान किया जा सकता है। जैन शिल्प संस्कृति में अष्टभुजा मूर्त्ति का एक विशेष स्थान है। पाकविड़रा में भी विभिन्न तीर्थंकरों की मूर्त्ति के साथ एक ही शिला-खण्ड में एक अष्टभुजा देवी की मूर्त्ति पायी गयी है। देउलघाटा में इस अष्ट-भुजा देवी मूर्त्ति के अतिरिक्त और भी कई जैन शासन देवियों की मूर्त्तियाँ दृष्टिगत हुई हैं। ये सब देवी मूर्त्तियाँ यहाँ के श्रीयुत सुनीतिकुमार पाठक के आश्रम में एक छोटे कमरे में रखी हुई हैं।

देउलघाटा मन्दिरों की दीवालों के रेखाचित्रों का बहुत कुछ प्रभाव यहाँ के ग्रामांचलों में लोक शिल्पमूलक घरों की दीवालों के चित्रों पर पड़ा है। मन्दिरों की दीवालों पर देखा जाता है मंगल कलश या मन्दिरों की आकृतियों के ऊपर चैत्य या वृक्षों का प्रतिरूप। कहीं यह ठीक तोरण जैसा लगता है। इस अंचल की लड़कियाँ घर की पिट्ठी (पीसे हुए चावल के आटे से बनाया हुआ सफेद रंग विशेष) से दुर्गा का पट्ट बनाती हैं। इस पट्ट में दुर्गा की कोई प्रतिकृति नहीं होती। एक घट या मंगल कलश पर चाल-चित्र या चैत्य अंकित करती हैं। ये देखने में बहुत कुछ देउलघाटा के मन्दिरों पर अंकित भित्तिचित्रों की भाँति हैं।

देउलघाटा की सुन्दर-सुन्दर कलाकृतियों का कुछ प्रचार होता तो ये सब और अधिक इस अंचल के लोक शिल्प को समृद्ध कर सकती थीं। किन्तु देउलघाटा के इस जंगल के मध्य वन फूलों की भाँति ये सब शिल्प-कलाएँ मानव-दृष्टि से ओझल रहकर ही झड़ पड़ती हैं। यह मानों सर्वगुण सम्पन्न राजकन्या है जो कि अपना अपरूप रूपलावण्य लिए देउलघाटा की अरण्य भूमि में निद्रित है इस प्रतीक्षा में कि कब अनजान देश का राजपुत्र आकर उसे स्वर्ण दण्ड के स्पर्श से जाग्रत कर विश्व के समक्ष प्रकट करेगा। किन्तु इस प्रतीक्षा का जिस दिन अन्त होगा क्या तब तक इसका रूप-लावण्य बना रहेगा?

जैन धर्म का प्रसार

श्री वे० रिषभ चन्द्र

एक समय ऐसी मान्यता रही कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। डॉ० याकोबी ने इस भ्रान्त धारणा को निर्मूल किया। तत्पश्चात् यह कहा जाने लगा कि जैन धर्म हिन्दू धर्म (ब्राह्मण धर्म) में से ही उत्पन्न हुआ है, वैदिक हिंसा के विरोध में जो आन्दोलन आरंभ हुआ था उसने एक नये धर्म का स्वरूप पाया, परन्तु जैसे-जैसे अन्वेषण अग्रसर होता जा रहा है वैसे-वैसे यह आक्षेप भी असत्य सिद्ध होता जा रहा है। आधुनिक विद्वान अब यह अभिप्राय बनाते जा रहे हैं कि जैन धर्म की परम्परा बहुत प्राचीन है। भगवान महावीर और पार्श्व के पूर्व काल में भी इस धर्म की परंपरा विद्यमान थी, इतना ही नहीं अपितु प्रागैतिहासिक काल में भी इस धर्म की परंपरा के धुंधले चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे हैं।

जैन के अलावा इस धर्म के दूसरे नाम आर्हत और निर्ग्रन्थ रहे हैं। महावीर के समय में इसका नाम निर्ग्रन्थ धर्म था जैसा कि पालि और अर्ध मागधी साहित्य से पता चलता है। इसका एक अन्य नाम श्रमण भी रहा है, हालांकि श्रमण शब्द बहुत विस्तृत रहा है और उसमें कई संप्रदायों का समावेश होता रहा है : जैसे बौद्ध, आजीविक तथा कुछ सीमा तक पूर्व कालीन सांख्य और शैव भी। इसी श्रमण परंपरा में निर्ग्रन्थों का भी एक संप्रदाय था। पार्श्वनाथ के पहले इस संप्रदाय का क्या नाम रहा यह जानने के लिए कोई विशिष्ट साधन उपलब्ध नहीं है। यह सुनिश्चित है कि श्रमण परंपरा निवृत्ति प्रधान रही है और उसे मुनि परंपरा भी कहा गया है। एक प्रवृत्ति परंपरा भी भारत में विद्यमान रही है, उसका नाम है वैदिक, यज्ञमुखी, देव-ऋषि अथवा वर्णाश्रम धर्म परंपरा। वास्तव में ये दोनों परम्पराएँ ऋग्वेद काल से प्रचलित हैं। ऋग्वेद हमारा प्राचीनतम साहित्य है जिनमें हमें निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों मार्गों के दर्शन होते हैं। उस समय मुनि परंपरा भी यथेष्ट प्रमाण में लोकप्रिय थी। महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनि के एक सूत्र की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि श्रमणों और ब्राह्मणों का विरोध शाश्वत काल से चला आ रहा है।[1] पुराणों और महाभारत में ऐसा उल्लेख है कि सृष्टि निर्माण करते समय ब्रह्मा ने प्रथम सनक आदि पुत्रों को उत्पन्न किया था। वे वन में चले गये और निवृत्तिमार्गी हो गये। तदुपरांत ब्रह्मा ने अन्य पुत्रों को उत्पन्न किया, जिन्होंने प्रवृत्ति प्रधान रहकर प्रजा की सन्तति को आगे

[1] महाभाष्य, २. ४. ६।

बढ़ाया।[२] कहने का तात्पर्य यह है कि निवृत्ति प्रधान परंपरा अत्यन्त प्राचीन है।

प्राचीन काल :

अपने प्राचीन इतिहास सम्बन्धी जैन आगमों और पुराणों के वर्णनानुसार जम्बु द्वीप के दक्षिण में स्थित भारत देश में जिसके उत्तर में हिमवान पर्वत है, पहले भोग भूमि की व्यवस्था थी। काल व्यतिक्रम से उसमें परिवर्तन शुरु हुआ और आधुनिक सभ्यता का प्रारंभ। उस समय चौदह कुलकर हुए, जिन्होंने क्रमशः कानून की व्यवस्था की और समाज का विकास किया। उन चौदह कुलकरों में अन्तिम कुलकर नाभि थे। उनकी पत्नी मरुदेवी थी और उनसे प्रथम तीर्थंकर ऋषभ का जन्म हुआ जिन्होंने सर्व प्रथम कृषि, शिल्प वाणिज्य आदि छह साधनों की व्यवस्था की तथा धर्म का उपदेश दिया। ये ही जैनों के आदि धर्मोपदेशक माने जाते हैं। इनका ज्येष्ठ पुत्र भरत था जो प्रथम चक्रवर्ती हुआ। इस तरह चौदह कुलकरों के पश्चात् त्रेसठ शलाका पुरुष हुए जिनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव तथा ९ प्रति-वासुदेव हैं।

प्रथम चक्रवर्ती भरत से ही इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ ऐसा जैन पुराणों व आगमों में कहा गया है। हिन्दु पुराणों के अनुसार भी इन्हीं नाभि के पौत्र तथा ऋषभ के पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम से अजनाभ खण्ड का नाम भरत खण्ड हुआ। इस प्रकार जैन अनुश्रुति का हिंदू (ब्राह्मण) पुराणों के द्वारा समर्थन होता है और उसकी ऐतिहासिकता सूचित होती है।

ऋषभदेव का जन्म अयोध्या में हुआ था। दीक्षा के बाद वे कठोर तपस्वी बने। वे नग्न रहते और सिर पर जटाएँ धारण करते थे। जैन कला में घोर तपस्वी के रूप में सिर पर जटाल केशों के साथ उनका अंकन हुआ है। उनके जीवन सम्बन्धी वर्णन अजैन साहित्य में भी प्राप्त हैं। हिन्दू पुराणों में[३] (भागवत इत्यादि) उनके वंश, माता पिता और तपश्चर्या का जो वर्णन है वह जैन वर्णन से काफी साम्य रखता है। वे स्वयंभू मनु से पांचवीं पीढ़ी में हुए थे। (इस वर्णन के अनुसार अन्य अवतारों जैसे राम, कृष्ण इत्यादि से इनका समय प्राचीन ठहरता है तथा महाभारत के अनुसार भी प्रजापति के प्रथम पुत्र निवृत्ति मार्गी हुए और तत्पश्चात् प्रवृत्ति मार्ग का प्रचलन हुआ।) वे कठोर तपस्वी थे और नग्न रहते थे। उन्होंने दक्षिण. देश में भी भ्रमण

[२] शान्ति पर्व, ३४०, ७२-७३, ९९-१०० ; भागवत पुराण, ३.१२।

[३] भागवत पुराण, ५.३, ५.६ ; शिव महापुराण ७-२।

किया था। वे वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करने के लिए अवतरित हुए थे। उन्हें विष्णु और शिव दोनों का अवतार माना गया है। वातरशना श्रमण मुनियों की इस परम्परा के दर्शन भारत के प्राचीनतम् साहित्य ऋग्वेद में[४] भी होते हैं। इस वेद के दशवें मंडल में वातरशना मुनियों का वर्णन उपलब्ध है और उसके साथ उनके प्रधान मुनि केशी की भी स्तुति की गयी है। केशी का तात्पर्य केश धारी व्यक्ति से है और जैन परंपरा में सिर्फ ऋषभ की मूर्त्ति जटाल केशों को धारण किये हुए मिलती है। इस सम्बन्ध में मेवाड़ के केसरियानाथ जो ऋषभ का ही नामांतर है, ध्यान देने योग्य है। ऋग्वेद में एक स्थल पर केशी और वृषभ का एक साथ वर्णन भी मिलता है और उनके एकत्व का समर्थन होता है। जैन तीर्थंकर नग्न रहते थे यह सुविदित है। ऋग्वेद में[५] तथा अथर्व वेद में[६] भी शिश्न देवों के उल्लेख मिलते हैं। पटना के लोहानीपुर स्थल से कायोत्सर्ग मुद्रा में जो नग्न मूर्ति पायी गयी है वह भारत की सबसे पुरानी मूर्ति है और वह जैन तीर्थङ्कर की मूर्ति मानी गयी है। वैसे सिन्धु सभ्यता के जो भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं उनमें भी एक नग्न मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा में मिली है और उसके साथ बैल का चित्र भी। जैन परंपरा में भी ऋषभ के साथ बैल का चिह्न अंकित किया जाता है। इस कारण उस मूर्ति को तीर्थङ्कर की मूर्ति मानने के लिये विद्वान लोग प्रेरित हुए हैं। उपर्युक्त आधारों से यह मानना अप्रामाणिक नहीं होगा कि ऋग्वेद से भी पहले सिन्धु सभ्यता के काल में जैन धर्म का किसी न किसी रूप में अस्तित्व था।

ऋग्वेद में[७] व्रात्यों के उल्लेख आते हैं। वे श्रमण परंपरा से संबन्धित थे। उनका वर्णन अथर्व वेद में[८] भी है। वे वैदिक विधि के प्रतिकूल आचरण करते थे। मनुस्मृति[९] में लिच्छवियों, नाथ, मल्ल, आदि क्षत्रियों को व्रात्य माना गया है। ये भी सभी श्रमण परम्परा के ही प्रतिनिधि थे। व्रात्यों के अलावा वैदिक[१०] साहित्य में यतियों के उल्लेख भी आते हैं। वे भी श्रमण परम्परा के साधु थे। जैनों में यति नाम की संज्ञा प्रचलित रही है। कुछ काल के पश्चात् वैदिक साहित्य में यतियों के प्रति विरोध होता दीख पड़ता है जो

---

४ ऋग्वेद, १०. १३६।
५ ऋग्वेद, ७.२१.५, १०.१६.३।
६ अथर्व वेद, २०, १३६. ११।
७ ऋग्वेद, १, १६३ ८, ६.१४.२।
८ अथर्व वेद, अध्याय १५।
९ अध्याय १०।
१० ऋग्वेद, [८.६.१८, १० ७२.७; तैतरीय संहिता, २.४.६.२; ऐतरेय ब्राह्मण, ७.२८।

पहले नहीं था। ताण्ड्य ब्राह्मण के[११] टीकाकार ने यतियों का जो वर्णन किया है उससे स्पष्ट है कि वे श्रमण परम्परा के मुनि थे। इस प्रकार वैदिक साहित्य के विविध ग्रंथों में श्रमण परम्परा के असंदिग्ध उल्लेख बिखरे पड़े हैं।

अन्य तीर्थङ्करों की ऐतिहासिक सत्ता के प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं। यजुर्वेद में ऋषभदेव तथा द्वितीय तीर्थङ्कर अजित और तेइसवें अरिष्टनेमि के उल्लेख मिलते हैं।[१२] अन्तिम चार तीर्थङ्करों की सत्ता के बारे में कुछ कहा जाने योग्य है। इक्कीसवें तीर्थङ्कर नमि का साम्य कुछ विद्वान उत्तराध्ययन में वर्णित नमि के साथ बिठाते हैं जो मिथिला के राजा थे।[१३] उनके अनासक्ति वषयक उद्‌गार वाक्य पालि और संस्कृत साहित्य में भी उद्धृत मिलते हैं। उसी परम्परा में जनक हुए जो विदेह (जीवन्मुक्त) थे और उनका देश भी विदेह कहलाया। उनकी अहिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण ही उनका धनुष प्रत्यंचाहीन प्रतीक मात्र रहा। वैसे व्रात्यों को भी 'ज्याहृद' कहा गया है और उसका सम्बन्ध इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है।

बाईसवें तीर्थङ्कर नेमि और बासुदेव कृष्ण चचेरे भाई थे। नेमि गिरनार पर तपस्या में प्रवृत्त हुए और वहीं पर मोक्ष प्राप्त किया। महाभारत काल १००० ई० पूर्व माना जाता है और वही समय नेमि का ऐतिहासिक काल माना जाना चाहिये। वैदिक वाङ्मय में वेद से पुराण तक के साहित्य में नेमि के उल्लेख देखने को मिलते हैं।[१४]

[क्रमशः

---

[११] ताण्ड्य ब्राह्मण, १४.११.२८, १८.१.६।

[१२] Vide Indian Philosophy, Part I, by Dr. S. Radha-Krishnan, p. 287.

[१३] उत्तराध्ययन, अ ६; Voice of Ahimsa, Sep.-Oct. 1958. (Dr. H. L. Jain's article)

[१४] भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १६; Vide Jainism the Oldest Living Religion by J. P. Jain, p. 22.

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

श्री हेमचन्द्राचार्य

[पूर्वानुवृत्ति]

"केवली भगवान के मुख से उपदेश सुनकर निर्नामिका को वैराग्य उत्पन्न हो गया। लौह-गुटिका की भाँति उसकी कर्म ग्रन्थि विद्ध हो गयी। उसने सम्यकतया महामुनि से सम्यक्त्व ग्रहण किया। सर्वज्ञ कथित श्रावक धर्म अंगीकार कर परलोक के पाथेय रूप पंच अणुव्रत धारण किया। तदुपरान्त महामुनि को वन्दन कर स्वयं को कृत्य-कृत्य समझती हुई काष्ठ बोझ लेकर अपने घर लौट गयी। उस दिन से उस बुद्धिमती निर्नामिका ने अपने नामानुकुल युगन्धर मुनि के उपदेश को हृदय में धारण कर नाना प्रकार के तप करने प्रारम्भ किए। क्रमशः वह यौवन को प्राप्त हुई किन्तु किसी ने भी उससे विवाह नहीं किया। जिस प्रकार कड़वे तुम्बे को पकने पर भी कोई ग्रहण नहीं करता उसी प्रकार उसे भी किसी ने ग्रहण नहीं किया। तब विशेष वैराग्य भाव से निर्नामिका ने युगन्धर मुनि से अनशन व्रत ग्रहण किया। हे ललितांग देव, अब उसकी मृत्यु सन्निकट है। तुम उसके निकट जाओ। उसे स्वयं को दिखलाओ ताकि तुममें अनुरक्त होकर मृत्यु के पश्चात् वह पुनः तुम्हारी पत्नी बने। कहा भी गया है—अन्त में जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है।"

ललितांग देव ने वैसा ही किया। ललितांग देव में अनुरक्त होकर निर्नामिका मृत्यु के पश्चात् पुनः स्वयंप्रभा के रूप में उसी श्रीप्रभ विमान में उत्पन्न हुई। प्रणय कोप से दूर हो जाने वाली स्त्री के पुनः आने की भाँति अपनी प्रिया को प्राप्तकर ललितांग देव उसके साथ अधिक आनन्द क्रीड़ा करने लगे। कारण धूप से पीड़ित प्राणी को छाया अत्यन्त प्रिय व सुखदायी लगती है।

इस प्रकार क्रीड़ा करते-करते बहुत समय व्यतीत हो गया। ललितांग देव में स्वर्ग से पतन होने के क्रमशः समस्त चिह्न प्रकट होने लगे। स्वामी का वियोग निकट जानकर उसके रत्नाभरण निस्तेज, मुकुट की माला म्लान और अंग के वस्त्र मलीन होने लगे। कहा गया है—जब दुःख समीप आ जाता है तो लक्ष्मी विष्णु को भी छोड़ जाती है। उस समय ललितांग देव के हृदय में

धर्म के प्रति अनादर और भोग की विशेष लालसा उत्पन्न हुई। जब अन्त समय निकट आता है तब प्राणी की प्रकृति में परिवर्तन होता ही है। उनके परिजनों के मुख से अपशकुनमय शोककारक और नीरस वचन निकलने लगे। कहा है बोलने वाले की जबान से जो कुछ होने वाला होता है वैसा ही वाक्य निकलता है।

जन्म से प्राप्त लक्ष्मी और लज्जा रूप प्रिया ने उसका इस प्रकार परित्याग कर दिया जिस प्रकार लोग अपराधी का परित्याग कर देते हैं। चींटी के जिस प्रकार मृत्यु के समय पंख निकल आते हैं उसी प्रकार अदीन और निद्रा रहित ललितांगदेव दीन व निद्राधीन हो गए। हृदय के साथ उनका सन्धि-बन्ध शिथिल होने लगा। महाबलवान पुरुष भी उनके जिन कल्पवृक्षों को हिला नहीं सकते थे वे काँपने लगे। उनके नीरोग अंग-प्रत्यंगों की सन्धि भविष्य के दुःख की शंका से भग्न होने लगी। अन्य के स्थायी भाव को देखने में असमर्थ उनकी आँखें वस्तु को देखने में असमर्थ हो गयीं। गर्भावास के दुःख का भय प्राप्त हो गया हो इस प्रकार उनका समस्त शरीर काँपने लगा। ऊपर अंकुश लिए बैठे महावत के कारण जिस प्रकार हस्ती स्वस्ति-लाभ नहीं करता उसी प्रकार ललितांग देव भी रम्य क्रीड़ा पर्वत, सरिता, वापी, दीर्घिका और उद्यान में आनन्द प्राप्त नहीं करते।

उनकी यह अवस्था देखकर देवी स्वयंप्रभा बोली—"मैंने ऐसा कौन-सा अन्याय किया है कि आप इस प्रकार मुझसे असन्तुष्ट हो गए है?"

ललितांग देव बोले—"हे शुभ्रे, तुमने कोई अन्याय नहीं किया है। अपराध मेरा ही है कि मैंने कम पुण्य और कम तपस्या की है। पूर्व जन्म में मैं विद्याधर राजा था। तब मैं भोग कार्यरत और धर्म कार्य में प्रमादी था। मेरे सौभाग्यदूत की भाँति स्वयंबुद्ध नामक मन्त्री ने मेरी आयु कम है जानकर मुझे जिनधर्म का उपदेश दिया। मैंने उसे स्वीकार किया। उस सामान्य समय के लिए किए धर्म के प्रभाव से मैं इतने दिनों तक श्रीप्रभ विमान का अधीश्वर बना। किन्तु अब मुझे यहाँ से जाना होगा। कारण अलभ्य वस्तु कभी प्राप्त नहीं होती।"

उसी समय इन्द्र की आज्ञा से दृढ़धर्मा नामक देवता उसके निकट आए और बोले—"आज ईशान कल्प के अधीश्वर नन्दीश्वरादि द्वीप में जिनेश्वर प्रतिमा पूजन के लिए जाएँगे। उनकी आज्ञा है आप भी उनके साथ जाएँ।"

यह सुनकर ललितांग देव आनन्दित हो गए। सौभाग्यवश आज्ञा समयानु-

कुल प्राप्त हुई है यह सोचते हुए स्वयंप्रभा को लेकर वे यात्रा पर निकल पड़े। नन्दीश्वर द्वीप जाकर उन्होंने शाश्वत अर्हत प्रतिमाओं की पूजा की। उस पूजा से प्राप्त आनन्द में वे अपना पतन काल भी भूल गए। निर्मल मन से वे जब अन्य तीर्थ की ओर जा रहे थे उनकी आयु समाप्त हो गयी और वे अल्प बचे हुए तेल के प्रदीप की तरह राह में ही बुझ गए अर्थात् देवयोनि से च्युत हो गए।

पंचम भव

जम्बूद्वीप में समुद्र के निकट पूर्व विदेह क्षेत्र अवस्थित है। वहाँ सीता नामक नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नामक एक विजय (प्रान्त) है। उस विजय में लोहार्गला नामक एक वृहद नगर है। उस नगर के राजा का नाम है स्वर्णध्वज। उसकी पत्नी लक्ष्मी के गर्भ से ललितांग देव पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। आनन्द से उत्फुल्ल उनके माता-पिता ने उनका नाम रखा वज्रजंघ।

स्वयंप्रभा देवी भी ललितांग देव के वियोग से दुःखी होकर धर्म कार्य में दिन व्यतीत करने लगी। कुछ समय बाद वहाँ से च्युत होकर उसी विजय के पुण्डरिकिनी नगरी के राजा वज्रसेन की पत्नी गुणवती के गर्भ से कन्या रूप में उत्पन्न हुई। देखने में वह खूब सुन्दर थी। अतः उसके माता-पिता ने उसका नाम रखा श्रीमती। मालियों द्वारा प्रतिपालित होकर लता जिस प्रकार बढ़ती है उसी प्रकार परिचारिकाओं द्वारा प्रतिपालित श्रीमती बढ़ने लगी। उसका शरीर कोमल और करतल नवीन किसलय की भाँति प्रभा सम्पन्न था। रत्नों से जड़कर अंगूठी जिस प्रकार शोभा देती है उसी प्रकार स्वकान्ति से पृथ्वी को आनन्दित करती हुई श्रीमती यौवन को प्राप्त हुई। सान्ध्यकालीन अभ्रमाला जिस प्रकार पर्वत शिखर पर आरूढ़ होती है उसी प्रकार उसने एक दिन अपने सर्वतोभद्र नामक प्रासाद के शीर्ष पर आनन्द के साथ आरोहण किया। वहाँ से उसने प्रत्यक्ष एक देव विमान को जाते देखा। मनोरम नामक उद्यान में किसी मुनि को केवल ज्ञान होने के कारण देवगण उनके पास जा रहे थे। उसे देखकर श्रीमती को लगा ऐसा विमान उसने पहले कभी देखा है। सोचते-सोचते रात को दृष्ट स्वप्न की भाँति उसे पूर्व जन्म स्मरण हो आया। पूर्व जन्म के ज्ञान भार को सहन करने में असमर्थ होने के कारण वह उसी क्षण बेसुध होकर गिर पड़ी। सखियों ने चन्दनादि लगाकर उसकी चेतना को लौटाया। वह सोचने लगी—पूर्वभव में ललितांग देव मेरे पति थे। वे स्वर्ग से च्युत हो गए थे। नहीं जानती अभी वे कहाँ हैं। हाय! इसीलिए मेरा मन दुःख से भाराक्रान्त है। मेरे हृदय पर एक मात्र उन्हीं का

अधिकार है। वही मेरे प्राणेश्वर हैं। सचमुच ही कर्पूर के पात्र में क्या कोई लवण निक्षेप करता है। यदि मैं अपने प्राणपति के साथ ही बात नहीं कर सकती तब अन्य के साथ बात करने से लाभ ही क्या है? यह सोचकर उसने मौन धारण कर लिया।

जब उसने बोलना बन्द कर दिया तो उसकी सखियों ने इसे देव दोष मानकर उसे स्वस्थ करने के लिए मन्त्र-तन्त्र से उपचार करने लगीं। किन्तु विभिन्न उपचारों के पश्चात् भी वे उसे स्वस्थ नहीं कर पायीं। कारण एक रोग की औषधि अन्य रोग को ठीक नहीं कर सकती। जितना प्रयोजन होता उतना लिखकर या संकेत से वह अपनी प्रयोजनीय बातें परिजनों को ज्ञात करवाने लगी।

एक दिन श्रीमती अपने क्रीड़ा उद्यान में गयी। वहाँ एकान्त पाकर पण्डिता नामक एक दासी उससे बोली—"हे राजकन्या! तुम मुझे प्राणों से भी प्यारी हो और मैं तुम्हारी माँ के समान हूँ। इसलिए, हमलोगों का एक दूसरे पर अविश्वास रखना उचित नहीं है। तुम किसलिए मौन हो वह कारण मुझे बताओ और अपने दुःखलाघव में मुझे भागीदार बनाओ। मैं तुम्हारे दुःख को समझकर उसका निराकरण करने की चेष्टा करूंगी। कारण रोग जाने बिना उसका निराकरण होगा कैसे?"

तब श्रीमती ने अपने पूर्व भव की कथा पण्डिता को इस प्रकार बतायी जैसे शिष्य प्रायश्चित के लिए गुरु के सम्मुख यथायथ तथ्य विवृत करता है। पण्डिता ने तदनुरूप एक चित्रपट अंकित करवाया और उसे लेकर वहाँ से प्रस्थान किया।

उसी समय चक्रवर्ती वज्रसेन का जन्मदिन निकटवर्ती होने से उस उपलक्ष में अनेक राजा और राजपुत्र वहाँ आए थे। श्रीमती के मनोभावों को व्यक्त करने वाला वह चित्रपट लेकर पण्डिता जिस राजपथ से वे आ रहे थे उसी राजपथ के किनारे खड़ी हो गयी। जो आए उनमें जो शास्त्रज्ञ थे आगम के अनुसार चित्रित नन्दीश्वर द्वीप आदि देखकर उसकी स्तुति करने लगे। अनेक श्रद्धा से सिर झुका-झुकाकर चित्रपट अंकित अर्हत् मूर्त्ति का विशद् वर्णन करने लगे। कलाभिज्ञगण सूक्ष्म रूप से रेखा अंकित आदि वास्तविकता की प्रशंसा करने लगे। कोई सान्ध्य अभ्र की भाँति चित्रपट पर चित्रित सफेद पीला नीला लाल आदि रंगों का वर्णन करने लगे।

इसी बीच नामानुरूप गुणयुक्त दुर्दर्शन नामक राजा का दुर्दान्त नामक पुत्र आया। वह कुछ क्षण तक चित्रपट को देखता रहा और तभी मूर्च्छित

होने का बहाना कर धरती पर गिर पड़ा। फिर संज्ञा लौट आयी हो इस प्रकार धीरे-धीरे उठ बैठा। लोगों ने उसके बेहोश होने का कारण पूछा तो वह झूठ बनाकर बोला—

"इस पट में किसी ने मेरे पूर्व जन्म की कथा चित्रित की है। अतः पट देखकर पूर्व जन्म स्मरण हो आया है। यह मैं ललितांग देव हूँ और यह मेरी देवी स्वयंप्रभा है। इस प्रकार वहाँ जो जो घटना चित्रित थी उसका वर्णन किया।"

पण्डिता बोली—"यदि ऐसा ही है तो चित्र में चित्रित स्थानों का अंगुली के संकेत से नाम बताओ।"

दुर्दान्त बोला—"यह सुमेरू पर्वत है, यह पुण्डरिकिनी नगरी है।"

पण्डिता बोली—"इस मुनि का नाम क्या है?"

वह बोला—"मुनि का नाम मैं भूल गया हूँ।"

पण्डिता ने फिर पूछा—"मन्त्री परिवृत इस राजा का क्या नाम है? वह तपस्विनी कौन है?"

दुर्दान्त बोला—"मैं उनका नाम नहीं जानता।"

इससे पण्डिता समझ गयी यह यथार्थ ललितांग देव नहीं है। तब वह हंसते-हंसते बोली—"तुम्हारे कथनानुरूप यह तुम्हारे पूर्व जन्म का विवरण है। तुम ललितांग देव और यह तुम्हारी पत्नी स्वयंप्रभा कर्म दोष से इस वक्त पंगु होकर नन्दीग्राम में जन्म ग्रहण किया है। अपना पूर्व जन्म स्मरण हो आने के कारण इस चित्रपट में उसने अपना पूर्व जन्म चित्रित किया है। मैं जब धातकी खण्ड गयी थी तो उसने यह चित्रपट मुझे दिया था। उस पंगु पर दया आ जाने के कारण मैंने तुम्हें खोज निकाला है। अब तुम मेरे साथ चलो। धातकी खण्ड में मैं तुम्हें उसके पास पहुँचा दूँगी। वत्स, दारिद्र्य पीड़ित तुम्हारी पत्नी तुम्हारे विरह में दुःखी जीवन व्यतीत कर रही है। अतः तुम उसके पास जाकर तुम्हारी पूर्व जन्म की वल्लभा को आश्वस्त करो।"

पण्डिता के चुप होने पर दुर्दान्त के बन्धु-बान्धव परिहास करते हुए बोले—"बन्धु, लगता है तुम स्त्रीरत्न प्राप्त करोगे। तुम्हारा पुण्योदय हुआ है। अतः तुम जाकर उस पंगु स्त्री से मिलो और आजीवन उसका लालन-पालन करो।"

मित्रों के इस परिहास को सुनकर दुर्दान्त कुमार लज्जित हो गया और विक्रय के लिए लायी हुई वस्तु में जो बच जाती है उस भांति मुख बनाकर वहाँ से विदा हो गया।

इसके कुछ पश्चात् ही लोहर्गलापुर से आए हुए वज्रजंघ कुमार भी वहाँ पहुँचे। वे चित्रपट पर अंकित चित्र देखकर मूर्च्छित हो गए। उन्हें पंखे से हवा की गयी, आँख-मुँह पर जल के छींटे डाले गए। तब उनकी चेतना लौटी। उसी क्षण मानो इसी मुहूर्त्त में स्वर्ग से अवतरण किया हो इस प्रकार उन्हें जाति स्मरण ज्ञान हुआ।

पण्डिता ने तब उनसे पूछा—"कुमार इस चित्रपट को देखकर तुम मूर्च्छित क्यों हो गए?"

वज्रजंघ ने प्रत्युत्तर दिया—"भद्रे, मेरे पूर्व जन्म की कथा मेरी स्त्री सहित इस चित्रपट पर अंकित है। वही देखकर मैं मूर्च्छित हो गया। यह है ईशान कल्प, उसमें यह श्रीप्रभ विमान है। यह मैं ललितांग देव हूँ। यह मेरी देवी स्वयंप्रभा है। धातकी खण्ड के नन्दीग्राम में महा दरिद्र के घर जन्मी निर्नामिका अम्बर तिलक शिखर पर यह खड़ी है और युगन्धर नामक मुनि से अनशन व्रत ग्रहण कर रही है। यहाँ वह मुझ पर आसक्त हो इसलिए मैं उसे दिखलाई दे रहा हूँ। वहाँ वह मृत्यु प्राप्त होने पर मेरी स्वयंप्रभा नामक देवी के रूप में जन्म ग्रहण किया है। यहाँ मैं नन्दीश्वर द्वीप में अर्हत् प्रतिमा के पूजन-वन्दन में निरत हूँ। और यहाँ अन्य तीर्थ को जाते समय मैं च्युत हुआ। एकाकिनी दीन और दरिद्र की भाँति स्वयंप्रभा ने यहाँ जन्म ग्रहण किया है—ऐसा मेरा अनुमान है। वह मेरे पूर्व भव की प्रिया थी। अब यहीं है। मेरा विश्वास है जाति स्मरण ज्ञान से उसने ही यह चित्रपट अंकित करवाया है। कारण अनुभव के बिना दूसरा कोई यह सब नहीं जान सकता।"

समस्त स्थानों का निर्देशन कर वज्रजंघ जो कुछ बोला सुनकर पण्डिता बोली—"वत्स, तुम्हारी बात सत्य है।"

तब पण्डिता श्रीमती के पास गयी और हृदय के दुःख को दूर करने वाली औषध की भाँति सारा वृतान्त उसे सुनाया।

मेघ के शब्द सुनकर विदुर पर्वत की भूमि जिस प्रकार रत्नों से अंकुरित हो जाती है उसी प्रकार श्रीमती अपने प्रिय पति के विषय में सुनकर रोमांचित हो गयी। फिर उसने पण्डिता से सब कुछ पिता को कहलवा भेजा। कारण स्वच्छन्द न होना कुलीन कन्या का धर्म है।

पण्डिता की बात सुनकर वज्रसेन उसी प्रकार आनन्दित हुए जैसे मेघ ध्वनि सुनकर मयूर आनन्दित होता है। उन्होंने वज्रजंघ कुमार को बुलवाकर कहा—"मेरी कन्या श्रीमती पूर्व जन्म की भाँति ही इस जन्म में भी तुम्हारी बने यही मैं चाहता हूँ।"

वज्रजंघ ने यह बात स्वीकार कर ली। समुद्र ने जिस प्रकार लक्ष्मी का विवाह विष्णु से किया था वज्रसेन भी अपनी कन्या श्रीमती का विवाह उसी प्रकार वज्रजंघ से कर दिया। फिर चन्द्रिका की भाँति एक रूप पति-पत्नी ने उज्ज्वल पट्टवस्त्र धारण कर राजा की आज्ञा लेकर लोहर्गलापुर को गमन किया। वहाँ पुत्र को योग्यावस्था समझकर सुवर्ण जंघ ने भी पुत्र को राज्य भार देकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

इधर चक्रवर्ती वज्रसेन भी स्वपुत्र पुष्करपाल को राज्य भार देकर प्रव्रज्या ग्रहण की और तीर्थंकर हुए।

वज्रजंघ निज प्रिया के साथ सम्भोग करते हुए जिस प्रकार हस्ती कमल को वहन करता है उसी प्रकार राज्य भार वहन करने लगे। गंगा और समुद्र की तरह वे कभी वियुक्त नहीं होते। निरन्तर सुख भोग करते हुए उस दम्पति के एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

अहिकुल की उपमा सेवनकारी और महाक्रोधी सामन्त राजा पुष्करपाल के विरोधी हो गए। सर्प की भाँति उन्हें वश में लाने के लिए पुष्करपाल ने वज्रजंघ को बुलवाया। शक्तिशाली वज्रजंघ उसकी सहायता के लिए रवाना हुए। इन्द्र के साथ जिस प्रकार इन्द्राणी जाती है उसी प्रकार अचल भक्तिमती श्रीमती भी स्वामी के साथ हो गयी। अर्द्धपथ जाते न जाते अमावस्या की रात्रि में चन्द्रिका का भ्रम उत्पन्न कारी एक विस्तृत काशवन उन्होंने देखा। पथिकों ने कहा—'इस पथ पर दृष्टि विष सर्प रहता है'। यह सुनकर उन्होंने भिन्न पथ से गमन किया क्योंकि नीतिवान पुरुष उपस्थित कार्य में ही तत्पर होते हैं।

पुण्डरीक सदृश वज्रजंघ पुण्डरिकिनी नगरी में उपस्थित हुए। उसके शक्तिबल से समस्त सामन्त नृपतिगण पुष्करपाल के अधीन हुए। विधिज्ञाता पुष्करपाल ने जिस प्रकार गुरुजनों का सम्मान करना चाहिए उसी प्रकार वज्रजंघ राजा का सम्मान किया।

कुछ दिन पश्चात् पुष्करपाल से विदा लेकर वज्रजंघ श्रीमती को साथ लिए लक्ष्मी के साथ जिस प्रकार लक्ष्मीपति जाता है उसी प्रकार प्रस्थान किया। शत्रुनाशकारी राजा जब उस काशवन के निकट आए तब मार्ग दर्शक चतुर व्यक्ति बोले—"अभी इस वन में दो मुनियों को केवल ज्ञान उत्पन्न होने के कारण देवतागण आए हैं। उनकी द्युति से दृष्टिविष सर्प निर्विष हो गया है। वही दोनों मुनि सागरसेन और मुनिसेन सूर्य और चन्द्र की भाँति अभी यहाँ अवस्थित हैं। संसार सम्पर्क में वे दोनों सहोदर भाई हैं। यह सुनकर

वज्रजंघ आनन्दित हुए और विष्णु जिस प्रकार समुद्र में निवास करते हैं उसी प्रकार वे भी वहाँ निवास करने लगे। देवताओं द्वारा परिवृत और धर्मोपदेश दान रत उन दोनों मुनियों को राजा ने श्रीमती सहित वन्दना की। उपदेश के अन्त में उन्होंने मुनियों को अन्न-वस्त्रादि दान किया। फिर वे सोचने लगे—धन्य हैं ये मुनि युगल जो सहोदर के सम्पर्क में भी समान कषाय रहित, ममता रहित और परिग्रह रहित हैं। मैं ऐसा नहीं हूँ अतः अधम हूँ। व्रत ग्रहणकारी पिता के सन्मार्ग के अनुसरणकारी होते हैं तभी तो पिता के औरस पुत्र कहलाते हैं। मैं ऐसा नहीं हुआ अतः क्रीत पुत्र की भाँति हूँ। इतना होने पर भी यदि मैं अभी व्रत ग्रहण करूँ तो उचित ही होगा। कारण दीक्षा प्रदीप की भाँति ग्रहण मात्र से ही अन्धकार दूर करती है। इसलिए मैं यहाँ से राजधानी लौटकर पुत्र को राज्य सौंप हंस जिस प्रकार हंसगति को प्राप्त होता है मैं भी उसी प्रकार पिता के पदचिह्नों का अनुसरण करूँगा।

श्रीमती को इसमें आपत्ति होने पर भी दोनों एक मन होकर लोहर्गला नगर को लौट गए। वहाँ राज्यलोभी उनके पुत्र ने मंत्रियों को धन देकर अपने वशीभूत कर लिया था। कारण जल के लिए कुछ अभेद्य नहीं है उसी प्रकार धन के लिए भी कुछ अभेद्य नहीं है।

श्रीमती और वज्रजंघ दूसरे दिन सुबह पुत्र को राज्य देकर स्वयं दीक्षा ग्रहण करेंगे सोचते हुए सो गए। उसी समय सुख से सोये हुए राज्य दम्पति को मारने के लिए राजपुत्र ने उनके कक्ष में विषाक्त धुएँ का प्रयोग किया। गृह अग्नि की भाँति उसे रोकने में समर्थ कौन था? प्राण को चिमटे से पकड़ कर निकालने में समर्थ उस धुएँ ने राजा-रानी के नाक में प्रवेश किया। अतः उसी भव में उसी स्थान में उनका देहान्त हो गया।

षष्ठ भव

वज्रजंघ और श्रीमती का जीव उत्तर कुरुक्षेत्र में युगल रूप में उत्पन्न हुए। ठीक ही कहा गया है समान विचार वाले मृत्यु-पथ यात्रियों की गति -सी ही होती है।

सप्तम भव

वहाँ से आयु शेष होने पर उन्होंने सौधर्म देवलोक में स्नेहशील देवता के रूप में जन्म ग्रहण किया और वहाँ दीर्घकाल तक स्वर्ग-सुख का भोग किया।

अष्टम भव

देव आयु समाप्त होने पर ऊष्णता पाकर जिस प्रकार हिम गल जाता है उसी प्रकार विगलित होकर वज्रजंघ का जीव वहाँ से चलकर जम्बूद्वीप के

विदेह क्षेत्र में क्षिति प्रतिष्ठित नगर के सुविधि वैद्य के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उनका नाम जीवानन्द रखा गया। उसी दिन उसी नगर में धर्म के शरीर धारी चार अंग की भाँति अन्य चार बालक उत्पन्न हुए। पहला ईशानचन्द्र राजा के घर कनकवती नामक रानी के गर्भ से महीधर नामक पुत्र हुआ। दूसरा सुनासी मंत्री के घर लक्ष्मी नामक स्त्री के गर्भ से सुबुद्धि नामक पुत्र हुआ। तृतीय सागरदत्त श्रेष्ठी के घर अभयमति स्त्री के गर्भ से पूर्णभद्र नामक पुत्र हुआ। चतुर्थ धनश्रेष्ठी के घर शालामती स्त्री के गर्भ से शीलपुंज की भाँति सुनाकर नामक पुत्र हुआ। धात्रियों के द्वारा सयत्न परिपालित और रक्षित होकर ये चारों पुत्र अंग के चार प्रत्यंग की भाँति समान रूप से बढ़ने लगे। वे सदा एक साथ खेलते। वृक्ष जैसे मेघवारि को समान रूप से ग्रहण करता है उसी प्रकार समान रूप से उन्होंने समस्त कलाएँ अधिगत कर लीं।

श्रीमती का जीव भी देवलोक से च्युत होकर उसी नगर के ईश्वरदत्त श्रेष्ठी के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम केशव रखा गया। पाँच इन्द्रिय और छठे मन की भाँति वे छहों मित्र समस्त दिन प्रायः एक साथ ही रहते।

इनमें सुविधि वैद्य का पुत्र पिता से औषधि और रसायन शास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर अष्टांग आयुर्वेद का ज्ञाता बना। हाथी के मध्य जैसे ऐरावत, नवग्रहों में जैसे सूर्य अग्रणी है वैसे ही वह भी वैद्यों में ज्ञानवान, निर्दोष विद्या का ज्ञाता और अग्रणी था। वे छः मित्र सहोदर भाइयों की तरह निरन्तर साथ-साथ रहते, एक दूसरे के घर जाते रहते।

एक दिन वे वैद्यपुत्र जीवानन्द के घर बैठे थे। उसी समय वहाँ एक मुनि भिक्षा ग्रहण करने आए। ये पृथ्वीपाल राजा के पुत्र थे। नाम था गुणाकर। गुणाकर मलीनता की भाँति राज सम्पद का परित्याग कर शम साम्राज्य अर्थात् दीक्षा ग्रहण कर ली थी। ग्रीष्मकाल में जैसे नदी सूख जाती है उसी प्रकार तपस्या से उनका शरीर शुष्क हो गया। असमय में एवं अपथ्य भोजन से उन्हें कृमि कुष्ठ नामक रोग हो गया था। सारी देह में वह रोग फैल गया था। तब भी वे महात्मा कभी भिक्षा में औषध नहीं माँगते। कहते हैं, मुमुक्षु कभी शरीर की परिचर्या नहीं करते।

गोमूत्रिका विधान से घर-घर भिक्षाचारी उन मुनि को दो दिन के उपवास के पश्चात् अन्न-जल के लिए उन्होंने उन्हें अपने आँगन में आते देखा। उन्हें देखकर संसार में अद्वितीय ऐसे महीधर कुमार ने वैद्य जीवानन्द से परिहास

करते हुए कहा—"तुम्हें रोग का ज्ञान है, औषध का ज्ञान है, चिकित्सा भी तुम अच्छी करते हो, किन्तु तुममें दया जरा भी नहीं है। धन के बिना गणिका जिस प्रकार किसी के मुख की ओर नहीं देखती तुम भी उसी प्रकार धन के बिना दुःखी व्यक्ति के प्रार्थना करने पर भी उसकी ओर नहीं देखते। विवेकी मनुष्य को केवल धन का लोभी बनना उचित नहीं है। कभी धर्म समझकर भी चिकित्सा करनी चाहिए। तुम्हारे रोग निदान और चिकित्सा ज्ञान को धिक्कार है यदि तुम ऐसे सत्पात्र अस्वस्थ मुनि की ओर नहीं देखते हो।"

यह सुनकर विज्ञान रत्न के रत्नाकर तुल्य जीवानन्द बोला—"तुमने मुझे कर्त्तव्य स्मरण करवा कर बहुत अच्छा किया। तुम्हें धन्यवाद।

"वास्तव में संसार में ब्राह्मण प्रायः द्वेष रहित नहीं होते, वणिक अवंचक नहीं होते, मित्र मण्डली ईर्ष्याहीन नहीं होती, शरीरधारी नीरोग नहीं होते, विद्वान धनवान नहीं होते, गुणवान निरभिमानी नहीं होते, स्त्री अ-चपल नहीं होती, राजपुत्र उत्तम चरित्रवान नहीं होते।

"ये मुनि चिकित्सा के योग्य हैं, किन्तु वर्त्तमान में मेरे पास औषध के उपकरण नहीं हैं। यही इसका अन्तराय है। इस व्याधि को दूर करने के लिए लक्ष पाक तेल, गोशीर्ष चन्दन और रत्न कम्बल की आवश्यकता पड़ती है। मेरे पास लक्षपाक तेल है किन्तु अन्य वस्तुएँ नहीं हैं। वे वस्तुएँ तुम लोग ला दो।"

"वे दोनों वस्तुएँ हम लाएँगे" कहकर पाँचों मित्र बाजार गए। मुनि भी अपने निवास स्थान पर लौट गए।

वे पाँचों मित्र बाजार जाकर एक वृद्ध वणिक को बोले—"हमें गोशीर्ष चन्दन और रत्न कम्बल चाहिए। मूल्य लेकर हमें ये वस्तुएँ दो।"

वह वृद्ध वणिक बोला—"इन दोनों वस्तुओं में प्रत्येक का मूल्य लक्ष सुवर्ण मुद्रा है अर्थात् दोनों वस्तु का मूल्य दो लक्ष सुवर्ण मुद्रा। मूल्य ले आओ वस्तु ले जाओ। किन्तु पहले यह बताओ तुम्हें ये वस्तुएँ क्यों चाहिए?"

वे बोले—"जो मूल्य लगे लो हमें दोनों वस्तुएँ दो। एक महात्मा की चिकित्सा के लिए हमें ये दोनों वस्तुएँ चाहिए।"

यह सुनकर वणिक आश्चर्य चकित हो गया। आनन्द से उसकी आँखों में जल भर आया और शरीर रोमांचित हो गया। वह सोचने लगा—कहाँ उन्माद आनन्द और तारुण्य भरा इनका यौवन और कहाँ वयोवृद्ध-सा इनका विवेक और विचार शक्ति। जो काम मेरे जैसे वार्द्धक्य जर्जरित व्यक्ति को

करना चाहिए वह काम ये कर रहे हैं और अदम्य उत्साह से करने के लिए अग्रसर हो रहे हैं।

ऐसी विवेचना कर वह वृद्ध वणिक उनसे बोला—"हे विवेकशाली युवकगण! गोशीर्ष चन्दन और रत्नकम्बल तुम ले जाओ। मूल्य देने की आवश्यकता नहीं है। इनका मूल्य रूप में धर्म रूप अक्षय निधि मैं प्राप्त करूँगा। तुम लोगों ने सहोदर भाई की तरह धर्म कार्य में अंशीदार बनाया उसके लिए धन्यवाद।" ऐसा कहकर वणिक ने उन्हें दोनों वस्तुएँ दे दी। फिर उसी शुद्ध अन्तःकरण से उस वणिक ने दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त किया।

औषध लेकर महात्माओं में अग्रणी वे मित्र जीवानन्द को लेकर मुनि के पास गए। वे मुनि कायोत्सर्ग ध्यान में एक वट-वृक्ष के नीचे खड़े थे। उन्हें देखकर लगता था जैसे बड़ की जड़ हो। मुनि महाराज को वन्दना कर वे मित्र बोले—"हे भगवन्, चिकित्सा के लिए हम आज आपकी तपस्या में विघ्न करेंगे। आप आज्ञा दीजिए और पुण्य प्रदान कर हमें अनुगृहित कीजिए।"

मुनि ने चिकित्सा की अनुमति दी। तब वे लोग तुरन्त की मरी हुई एक गाय ले आए। कारण सद्वैद्य कभी विपरीत (पापयुक्त) चिकित्सा नहीं करते। फिर उन्होंने मुनि के समस्त शरीर में लक्षपाक तेल मालिश किया। वह तेल नाले के जल की भाँति उनकी शिरा उपशिरा में प्रविष्ट हो गया। देह में ताप उत्पन्नकारी उस तेल की गर्मी से मुनि बेसुध हो गए। कड़े रोग में उग्र औषध ही कार्य करती है।

[क्रमशः

तप*

श्री नरेन्द्र कुमार सेठी

अग्नि की ज्वलन्त लपटों में आलोक निखरता है। स्वर्ण की गरिमा का पूर्ण आभास भी अग्नि द्वारा ही संभव है। अग्नि जीवनधात्री है। इसके बिना प्रकृति अस्वाभाविक हो जाएगी। तप भी अग्नि का एक आयाम है, तप का अर्थ 'धुनी रमाना' या 'जलते कोयले पर चलना' नहीं है। इसका अर्थ रूपकात्मक है, प्रतीकात्मक है। ज्ञान, परिश्रम, त्याग और आत्मानुशासन की अग्नि को प्रज्वलित कर हमें अपना व्यक्तित्व, अपना जीवन और अपना सारा अस्तित्व ज्वलन्त करना है, उसे तपाना है और तपा कर परिष्कृत करना है। तप हमें धूमिलता से प्रकाश की ओर उन्मुख करेगा।

जैन मत में तप की महत्ता पूर्णतः स्थापित है; किन्तु इसका स्वरूप मात्र बाह्य तपस्या नहीं है अपितु आन्तरिक तपस्या भी है। इसका लक्ष्य आत्मा को प्रखर, मनोबल को तीव्र, चेतना को केन्द्रित और मोक्षमार्ग को प्रशस्त करना है।

तपस्या साधन है, साध्य नहीं है। ऐसा न हो कि हम अपनी शारीरिक तपस्या में ही इतने लवलीन हो जाएँ कि यही हमें काम्य लगने लगे। तपस्या करने वाले साम्प्रदायिक साधु व तपस्वी इतनी तीव्र उत्पीड़न झेलते हैं और शरीर को इतना कष्ट देते हैं कि उनका वर्णन असंभव तथा पीड़ा कारक होता है। कई साधु तपस्या करने का नाटक इस खूबसूरती से करते हैं कि सैकड़ों दर्शकों का मजमा लग जाता है। कोई धूनी रमाता है, कोई उलटा टंग जाता है, कोई अपना हाथ उठाए रहता है और कोई सुइयों पर ही सोया रहता है। (यह बिम्ब पाश्चात्य जगत में भारतीय तपस्या (?) के विवेचन में काफी लोकप्रिय है।) क्या ये सब शारीरिक भर्त्सनाएँ तपस्वी के लिए उपयुक्त है? क्या ये तपस्या के सात्विक रूप हैं या केवल इसके तामसिक आयाम? क्या इन वेदनाओं को झेलने से और अपनी तपस्या का नाटकीय प्रदर्शन करने से साधक को कुछ विशेष उपलब्धि हो सकती है?

जैन मतानुसार तपस्या एक अत्यन्त व्यक्तिगत (पर्सनल) साधना है। इसका प्रदर्शन मिथ्यात्व है। तपस्या अपनी सीमाओं में रहकर ही करना चाहिए।

---

* अन्तर्बोध, हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर, से साभार।

अगर शारीरिक और मानसिक सीमाओं का उल्लंघन कर कोई साधक कठोर व्रत, उपवास, तप इत्यादि में तल्लीन हो गया तो उसका वास्तविक नतीजा अनुकुल नहीं होगा, अपितु साधक की ज्ञान-यात्रा के लिए वह प्रतिकूल ही सिद्ध होगा।

वस्तुतः तपस्या की कोई परिभाषा नहीं है। इसका कोई नियमित विधान, विधि या क्रिया नहीं है। इसे हर व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण से अपनाने का प्रयास करता है। हाँ, इसका क्रमिक विकास और क्रमिक व्यापकत्व अवश्य है। जैसे-जैसे साधक की सीमा और उपलब्धि बढ़ती है, वैसे-वैसे उसका व्यक्तिगत तप और प्रयास भी आपो-आप बढ़ने लगता है।

आचार्य कुन्द-कुन्द ने 'रयणसार' में कहा है—

मोक्खणिमित्तं दुक्खं, वहेदि, परिलोयदिट्ठीतणुदंडी।
मिच्छाभाव ण हिज्जदि, किं पावदि मोक्ख सोक्खं हि॥

परलोक में सुखों की अभिलाषा करने वाला व्यक्ति मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है और मोक्ष पाने के निमित्त दुःख सहन करता है, परन्तु वह व्यक्ति मिथ्यात्व को नष्ट नहीं कर सकता।

इसी प्रकार उन्होंने 'समयसार' में भी दिव्य घोषणा की है—

परमट्ठम्मिदु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू॥ — (१, ८, १५२)

जो परमार्थ में तो स्थित नहीं है, किन्तु तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उस समस्त तप और व्रत को सर्वज्ञदेव बालतप और बालव्रत कहते हैं।

केवल पीड़ा सहन करना तप नहीं है, तप का परिहास है। तप के लिए अन्तर्मुख होना पड़ेगा, अपने मिथ्यात्व का त्याग करना होगा, रत्नत्रय के प्रति जागरूकता उत्पन्न करनी होगी ज्ञान की प्राप्ति के साथ ही उसका रसास्वादन करना पड़ेगा और ज्ञान की आन्तरिक अनुभूति करनी होगी।

जैन पत्र-पत्रिकाएँ : कहाँ/क्या

अनेकान्त ॥ अक्टूबर-दिसम्बर १९८१

इस अंक में है 'जैन परम्परानुमोदित तप विज्ञान' (डा० ज्योति प्रसाद जैन), 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल : एक मूल्यांकन' (डा० देवेन्द्र कुमार जैन), 'हिन्दी काव्य में चौपाई छन्द' (डा० आदित्य प्रचण्डिया), 'सम्यकत्व कौमुदी सम्बन्धी अन्य रचनाएँ' (अगरचन्द नाहटा), 'अनुसन्धान में पूर्वाग्रह मुक्ति आवश्यक' (डा० दरबारीलाल कोठिया), 'भ्रम निवारण' (डा० रमेशचन्द्र जैन), 'तीन' (बाबूलाल जैन), 'श्रावक के दैनिक आचार' (सुधा जैन), 'शंका शल्य' (रत्नत्रयधारी जैन), 'जीवन्धर चम्पू में आकिञ्चन्य' (राका जैन) ।

अमर भारती ॥ जनवरी १९८२

उपाध्याय श्री अमरमुनि के प्रवचनों के अतिरिक्त इस अंक में है 'समाज और हमारा दायित्व' (तनसुखलाल डागा), 'धर्म का स्वरूप' (मनोज डागा), 'ये बन्धन कब टूटेंगे ?' (उम्मेदमल मुनोत), 'श्री गुरुवे नमः' (कुमुद विद्यालंकार), 'इन्हें भी जीने का हक है' (हीराचन्द वेद), 'तीर्थंकरों की शारीरिक विशेषताएँ' (साध्वी श्री संघमित्रा), 'आत्म सत्व को जान लेने में जीवन की पूर्णता है' (श्री रतन मुनि) ।

जर्नल अव दि आरियन्टल इन्स्टीट्युट ॥ सितम्बर १९८१

इस अंक में है 'The Reconversion of Saddala-putta and the Retreat of Mankhali-putta Gosala' (S. N. Ghosal), 'Concept of a Purana in Jain Literature' (M. J. Kashalikar) ।

जैन जर्नल ॥ जनवरी १९८२

इस अंक में है 'The Lord Nemi in Image' (Leona Smith Kremser), 'Thavaraccaputra' (Ganesh Lalwani), 'Karma and the Arhant in Jainism' (Arvind Sharma), 'Was Sasanka a Jaina in His Early Life ?' (Chittaranjan Pal), 'How Karma Theory Relates to Modern Science' (Duli Chandra Jain), 'Two Jaina Sculptures from Bhairavasinghapur' (Umakant Subuddhi), 'On the Allegory of Parasmani' (Dr. M. K. Jain)

तीर्थंकर ॥ जनवरी १९८२

भक्तामर स्तोत्र विशेषांक

सम्पादकीय के अतिरिक्त इस अंक में है 'पाँच कविताएँ' (दिनकर सोनवलकर), 'स्तोत्र : अमृत की सरिता' (मुनि रामकृष्ण), 'जैन स्तोत्रों का

रसास्वाद' (प्रा० जनार्दन भ ई दवे), 'वीतराग भक्ति' (गणेश ललवानी), भक्तामर स्तोत्र : प्रतीक चित्र, मूल पद्यानुवाद, गद्यानुव द, ऋद्धि, मन्त्र, प्रभाव, अन्वय+अर्थ, यन्त्र-चित्र', 'भयहर/नमिऊण स्तोत्र' (विद्याधर जोहरापुरकर), 'भक्तामर स्तोत्र : पद्यानुवाद सर्वेक्षण' (अगरचन्द नाहटा), 'राजस्थान में 'भक्तामर स्तोत्र' की लोकप्रियता' (डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल), 'शत-शत तुम्हें प्रणाम' (बाबूलाल जैन), 'भक्तामर स्तोत्र : बहिरंग और अन्तरंग झाँकी' (कन्हैयालाल सरावगी), 'भक्तामर की यशोपताका', (राजमल पवैया), 'जैन भक्ति : स्वरूप और सार्थकता' (बातचीत एक—मुनि विद्यानन्द व डा० नेमीचन्द जैन), 'भक्तामर स्तोत्र : डगर भक्ति से मुक्ति तक' (बातचीत दो—मुनि जयन्त विजय मधुकर व डा० नेमीचन्द जैन), 'जैन भक्तिमार्ग' (पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री), 'एक श्लोक : सत्तर पद्यानुवाद' (पं० कमलकुमार शास्त्री) 'मौलिमणिप्रभाणाम्—यात्रा मूलाधार से सहस्रार तक' (गणेश ललवानी), 'भक्तामर यात्रा कथा' (डा० प्रेम सुमन जैन), 'भक्तामर में आत्मदेव की स्तुति' (पं० नाथूलाल शास्त्री), 'समण सूत्तं चयणिका' (डा० कमलचन्द सोगानी), 'धर्मस्थल परिशिष्ट'।

तुलसी प्रज्ञा ।। दिसम्बर १९८१ जनवरी १९८२

आचार्य श्री तुलसी के प्रवचनों के अतिरिक्त इस अंक में है 'जैन दर्शन में अनेकान्त वाद' (अशोक कुमार जैन), 'जैन साहित्य : नये संदर्भ, नयी दृष्टि' (साध्वी कनकश्री), 'स्याद्वाद' (डा० नरेन्द्र कुमार जैन), 'आयारो हिन्दी पद्यानुवाद' (मुनि मांगीलाल), 'स्ट्रासवर्ग विद्वत्सम्मेलन' (डा० नथमल टाटिया), 'Key note of the Jaina Path : Renunciation' (Dr.Jyoti Prasad Jain), 'Scientific Evaluation of the Principle of Non-contactibility of the Eye' (N. L. Jain), 'Apt Illustrations to Explain Fundamentals of Jaina Religion' (Sohanraj Kothari), 'Jaina Technical Terms' (Dr. Mohanlal Mehta)

श्रमण ।। जनवरी १९८२

इस अंक में है 'लोद्रवा का कलात्मक कल्पवृक्ष' (भूरचन्द जैन), 'जैन दर्शन में प्रत्यक्ष का स्वरूप' (वशिष्ठ नारायण सिन्हा), 'श्रोत्र इन्द्रिय की प्राप्यकारिता : एक समीक्षा' (नन्दलाल जैन), 'स्याद्वाद : एक भाषायी पद्धति' (भिखारीराम यादव)।

संकलन

जैन पुस्तक विक्रय-केन्द्र की आवश्यकता

वर्तमान युग में प्राकृत, संस्कृत एवं जैन विद्या के अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसन्धान की दिशा में विशेष प्रगति हुई है। वैज्ञानिक शिक्षण-पद्धति के विकास के कारण धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन आत्म ज्ञान की दृष्टि से ही नहीं, सामाजिक विज्ञान की दृष्टि से भी किया जाने लगा है। देश और विदेश के कई विश्वविद्यालयों में धर्म और दर्शन के विभाग कार्यरत हैं। जैन विद्या के अध्ययन, अध्यापन की दृष्टि से यूरोपीय देशों में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य हुआ है और हो रहा है। हमारे देश में भी बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, उदयपुर विश्वविद्यालय, राजस्थान विश्वविद्यालय नागपुर विश्वविद्यालय, मैसूर विश्वविद्यालय, पंजाबी विश्वविद्यालय, पाटियाला, आर्ट्स कालेज, धारवाड़, जबलपुर विश्वविद्यालय, पूना विश्वविद्यालय आदि उच्च स्तरीय शिक्षण संस्थाओं में स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर पर प्राकृत एवं जैन विद्या के अध्ययन एवं अनुसन्धान की व्यवस्था है। इन विभागों, कालेजों तथा अन्य धार्मिक शिक्षण संस्थाओं के लिए जैन साहित्य की अनिवार्य आवश्यकता बनी रहती है। शिक्षण संस्थाओं एवं सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए प्रतिवर्ष बड़ी संख्या में पुस्तकें खरीदी जाती हैं और इसके लिए सरकार की ओर से विशेष अनुदान राशि स्वीकृत की जाती है। पर जैन पुस्तकों की व्यवस्थित विक्रय व्यवस्था न होने से अच्छी और उपयोगी पुस्तकें पुस्तकालयों में नहीं पहुँच पाती। यही नहीं, अधिकारियों को यह जानकारी भी नहीं मिल पाती कि जैन पुस्तकें इतनी बड़ी संख्या में प्रकाशित होती है।

वर्तमान में हमारे समाज में जैन साहित्य के प्रकाशन की ओर विशेष सक्रियता बढ़ी है पर उसकी तुलना में साहित्य के प्रचार, प्रसार व उसके विक्रय की व्यवस्था के प्रति अत्यन्त उदासीनता है। इसके कई कारण हैं। सामान्यतः हमारे यहाँ जो प्रकाशन किया जाता है वह धार्मिक भावना की दृष्टि से ही। साधु-सन्तों की प्रेरणा से विद्याप्रेमी दानी मानी सज्जन पुस्तक प्रकाशन का व्यय अपनी ओर से प्रदान करते हैं और पुस्तकों का लागत मूल्य रखा जाता है। ये पुस्तकें सामान्यतः प्रभावना के रूप में बाँट दी जाती हैं अथवा स्थायी रूप

से साहित्य सदस्य बनाकर उन्हें प्रकाशित साहित्य भेज दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि प्रकाशित साहित्य प्रकाशक के सीमित दायरे में ही रहता है। वह राजकीय शिक्षण संस्थाओं एवं सार्वजनिक पुस्तकालयों में प्रायः नहीं पहुँच पाता। साहित्य की विक्रय व्यवस्था व्यावसायिक स्तर पर न होने से पुस्तक विक्रेता जैन साहित्य के प्रचार, प्रसार एवं विक्रय में सहायक नहीं हो पाते।

किसी एक स्थान पर पुस्तकों के न मिलने, आकर्षक कमीशन देने की व्यवस्था न होने, सुन्दर, आकर्षक छपाई व गेटअप न होने, पुस्तकों की सूची न मिलने आदि के कारण उपयोगी, प्रेरणादायी, जीवन-निमार्णकारी, सरल, सुबोध शैली में लिखित सस्ते मूल्य की पुस्तकें भी संकीर्ण दायरे में सीमित रह जाती हैं और उनका लाभ सामान्य पाठक को नहीं मिल पाता।

समाज के दानी-मानी सज्जनों, प्रकाशन संस्थाओं, लेखकों एवं सम्पादकों को इस दिशा में सजगता पूर्वक सोचना चाहिए और एक ऐसे जैन पुस्तक विक्रय केन्द्र की व्यावसायिक स्तर पर स्थापना करनी चाहिए जिसके द्वारा राजकीय शिक्षण संस्थाओं एवं सार्वजनिक पुस्तकालयों को जैन साहित्य उपलब्ध कराया जा सके।

जैन समाज मुख्यतः व्यापारिक समाज है। उद्योग व व्यापार-वाणिज्य क्षेत्र में उसने बड़ी प्रतिष्ठा, प्रामाणिकता और सफलता अर्जित की है। अपने इस अनुभव एवं प्रामाणिकता का लाभ जैन पुस्तक विक्रय केन्द्र की स्थापना के रूप में समाज को मिलना चाहिए। जैन समाज द्वारा संचालित कई पुस्तक केन्द्र भी हैं। समाज में कई ऐसे प्रकाशक, प्रेस मालिक और पुस्तक विक्रेता भी हैं जो पुस्तक व्यवसाय में लगे हुए हैं। ऐसे अनुभवी पुस्तक व्यवसायियों को मिलकर निजी स्तर पर अथवा सामूहिक स्तर पर एक ऐसे केन्द्रीय पुस्तक विक्रय केन्द्र की स्थापना अवश्य करनी चाहिए, जहाँ से प्रकाशित जैन साहित्य सुगमता पूर्वक शिक्षण संस्थाओं एवं व्यक्तियों को उचित कीमत पर उपलब्ध हो सके।

आशा है, समाज के प्रबुद्ध व्यवसायी इस दिशा में सचेष्ट होंगे।

डा० नरेन्द्र भानावत

श्रमणोपासक, १० जनवरी, १९८२

Vol V No. 10 : Tirthayara : February 1982
Registered with the Registrar of Newspapers for India
under No. R. N. 30181/77

Hewlett's Mixture

for

Indigestion

DADHA & COMPANY

and

C. J. HEWLETT & SON (India) PVT. LTD.

22 STRAND ROAD

CALCUTTA-700001